**International Research Journal of Human Resource and Social Sciences**
**ISSN(O): (2349-4085) ISSN(P): (2394-4218)**
**Impact Factor 6.924 Volume 9, Issue 06, June 2022**
**Website-** www.aarf.asia, **Email** : editoraarf@gmail.com

# प्राचीन भारत में सामाजिक परिवर्तन के तत्व : वर्ण व्यवस्था का विशेष संदर्भ

ि"ाव कुमार, एम. ए. इतिहास, यूजीसी नेट, चौ. चरण सिंह वि"वविद्यालय, मेरठ
मोबाइल

सारां"ा

*पूर्व वैदिक समाज का तात्पर्य ऋग्वैदिक समाज से है जहाँ समाज समतामूलक था। ऋग्वैदिक काल में सामाजिक व्यवस्था सहयोग एवं सहभागिता पर आधारित थी। इस समय समाज पितृ सत्तात्मक होने के बावजूद स्त्री–पुरुष विभेद नहीं था, पुत्रियों को पुत्रों के समान माना जाता था तथा उनकी शिक्षा एवं अधिकार में भी समानता थी, जबकि उत्तर वैदिक काल तक आते–आते समाज में असमानताएँ उत्पन्न होने लगी थी। ऋग्वैदिक समाज का आधार परिवार होता था जिसमें पिता या बड़ा भाई परिवार का स्वामी होता था। पिता परिवार के दु:ख–सुख का पूरा ध्यान रखता था। ऋग्वैदिक समाज प्रारंभ में वर्ग विभेद से रहित था। सभी लोगों की समान सामाजिक प्रतिष्ठा थी। इस समय के सभी लोगों को आर्य कहा जाता था। ऋग्वैदिक काल में वर्ण पद रंग के अर्थ में प्रयोग किया गया किंतु कहीं–कहीं यह व्यवसाय चयन के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। पूर्ववैदिक काल के लोगों में खानाबदोश की जिन्दगी की तरह से सरल, साधारण एवं सीधी थी। इनका जीवन बहुत ज्यादा व्यवस्थित नहीं था और इसी से समाज में तनाव भी कम था। उत्तर वैदिककाल में स्थायी जीवन व्यतीत करने के फलस्वरूप इनका जीवन काफी व्यवस्थित हो गया था। इसके परिणामस्वरूप आर्यों के बीच सामाजिक विभाजन बड़ा मजबूत हो गया। सामाजिक विभाजन वर्ण पर आधरित था। उत्तरवैदिक काल में चार वर्णों की चर्चा हम पाते हैं जिनकी उत्पत्ति देवता के अलग–अलग अंग से हुई। मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य एवं पैर से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। जिस देवता के मुख, भुजा, जंघा एवं पैर से अलग–अलग वर्णों की उत्पत्ति हुई, वह कल्पना पर आधरित है। इस सम्बन्ध में किसी तरह का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है। अतः अध्ययन की सुविधा के लिय उस देवता को प्रथम मानव या ब्राह्मण या देवता या कुछ और भी कह सकते हैं। इस तरह उत्तरवैदिक काल के सम्पूर्ण समाज को एक शरीर मानकर इसे चार भागों में बाँट दिया गया है। इस विभाजन का आधार धार्मिक है और इसमें तर्क का कोई स्थान नहीं है।*

**महत्वपूर्ण भाब्द : ऋग्वैदिक समाज, वर्ण एवं जाति, वर्ण धर्म, वर्णसंकर,सामाजिक परिवर्तन**

**© Associationof Academic Researchers and Faculties (AARF)**
A Monthly Double-Blind Peer Reviewed Refereed Open Access International e-Journal - Included in the International Serial Directories.

ऋग्वैदिक और उत्तर वैदिक काल मे समाज में अनेक परिवर्तन हुए। इस काल में जिन सामाजिक नियमों का आविर्भाव हुआ और वे स्थापित हुए, वे आज भी बड़ी सीमा तक भरतीय समाज की पहचान बने हुए हैं। ऋग्वद में आर्यों के समाज के चार वर्णों में विभक्त होने के प्रमाण मिलते हैं किंतु इस काल में किसी भी वर्ण का व्यक्ति कोई भी व्यवसाय कर सकता था। ऋग्वेद में खान पान के विषय में भी वर्ग के आधार पर कोई प्रतिबंध नहीं था। विवाह भी सभी वर्णों के व्यक्ति एक दूसरे के साथ करते थे। समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी वर्णों की स्थिति समान थी। इसका यह अर्थ है कि ऋग्वैदिक काल में समाज में चार वर्ग थे, जो व्यक्तिगत विशेषताओं पर आधारित थे।

- **वर्ण–व्यवस्था**

व्यवसाय और समान हितों के आधार पर समाज का वर्गों में विभाजन प्रायः सभी देशों में काफी पुराने समय से पाया जाता है।[1] ये वर्ग अपने ही वर्ग के अतंगत वैवाहिक संबंध स्थापित करते थे और उन्हीं की साथ खानपान का संबंध रखते थे। इस प्रकार का वर्गीकरण भारत के बाहर अन्य अनेक प्राचीन देशों में भी पाया जाता है। ऋग्वैदिक समाज में दो मुख्य वर्गों का उल्लेख मिलता हैः आर्य वर्ण और दास वर्ण। इन दोनों वर्णों में शारीरिक और सांस्कृतिक, दोनों प्रकार के भेद थे। आर्यों ने अनार्यों के लिए निम्नलिखित विशेषण प्रयुक्त किए हैंः कृष्णत्वक्, कृष्णगर्भ, अनास।[2] इन विशेषणों से स्पष्ट है कि ये अनार्य काले रंग के थे। दोनों के सांस्कृतिक अंतर को प्रकट करने वाले निम्नलिखित शब्द ऋग्वेद में मिलते हैंः मृधवाक्, अकर्मन्, अदेवयु, अब्रह्मन्, अव्रत, अन्यव्रत, अदेवपीयु और शिश्नदेव।

वर्ण का शाब्दिक अर्थ रंग है। कालांतर में वर्ण का अर्थ चरित्र, स्वभाव और गुण भी हो गया। 'आर्य वर्ण' से सच्चरित्र, अच्छे स्वभाव और अच्छे गुणों वाले व्यक्ति का बोध होने लगा जबकि 'दास वर्ण' से दुश्चरित्र, बुरे स्वभाव और दुर्गुणों वाले लोगों का। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में लिखा है कि देवताओं ने आदि पुरुष के चार भाग किएः ब्राह्मण उसका मुख था और राजन्य बाहु थे। उसकी जंघा वैश्य थे तथा शूद्र उसके पैरों से उत्पन्न हुए थे। इसका लाक्षणिक अर्थ यह लगाया गया है कि आदि पुरुष ने मनुष्य मात्र को शिक्षा देने के लिए ब्राह्मणों की सृष्टि की, शक्ति से मनुष्य मात्र की रक्षा करने के लिए क्षत्रियों की सृष्टि हुई।[3] मनुष्यों को भाजे न देने के लिए वैश्यों की उत्पत्ति हुई तथा तीन वर्णों की सेवा करने के लिए शूद्रों की। किंतु ऋग्वेद में ब्रह्म, क्षत्र और विश् तीन वर्णों का भी उल्लेख है। ऋग्वेद के अंतिम मंडल में समाज के ब्राह्मण, राजन्य, विश् और शूद्र चारों वर्णों का उल्लेख है। जन–जातियों के नेता 'राजन्य' कहलाया। शेष व्यक्ति जिन्हें राजन्य वर्ग के संरक्षण की आवश्यकता थी 'विश्' कहलाए। अनार्य लोग आर्यों की सेवा करते 'शूद्र' या 'दास' कहा जाता था।

ऋग्वेद के नवें मंडल की एक ऋचा से यह स्पष्ट है कि इस समय तक व्यवसाय चुनने में किसी प्रकार का प्रतिबंध न था। इस ऋचा में एक व्यक्ति कहता है, 'मैं कवि हूं, मेरे पिता एक वैद्य थें, मेरी माता आटा पीसती थी। हम सभी धन और पशु की कामना

करते थे। ब्राह्मणों और क्षत्रियों की अपेक्षा विश् समाज में अधिक संख्या में थे किंतु उनके भी व्यवसाय पैतृक न थे। कोई भी मनुष्य किसी भी व्यवसाय को कर सकता था। किन्तु उत्तर वैदिक काल में यज्ञों की क्रिया बहुत जटिल हो गई इसलिए ब्राह्मणों का महत्व बहुत बढ़ गया। इस काल में ब्राह्मणों का संगठन ज्ञान पर आधारित था, जन्म पर नहीं। 'शतपथ ब्राह्मण' में स्पष्ट लिखा है कि कोई व्यक्ति ज्ञान से ब्राह्मण बनता है, जन्म से नहीं। इसी प्रकार 'शतपथ ब्राह्मण' में लिखा हैः 'जो कोई यज्ञ करता है वह मानो प्रथम ब्राह्मण बनकर ऐसा करता है। इसका यह अर्थ है कि वैश्य भी यज्ञ के द्वारा ब्राह्मण बन सकता था।[4]

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उत्तर वैदिक काल में भी ब्राह्मणों का संगठन अभी तक कठोर नहीं था। पुरोहित जनता के सभी वर्गों से विवाह करते थे यहॉ तक कि वे शूद्रों से भी पत्नियां ग्रहण करते थे। क्षत्रियों का भी अपना अलग वर्ग था। वैश्य उस विशाल जनसमुदाय का प्रतिनिधित्व करते थे जिसमें से ब्राह्मणों और क्षत्रियों का चयन होना था। शूद्र शब्द के सीमित अर्थ में वे सभी व्यक्ति थे जो आर्यों से भिन्न थे। लेकिन उन्हें भी इस काल में वैदिक साहित्य पढ़ने और पवित्र अग्नि के पास जाने का अधिकार था। वे भी अपने शवों का दाह संस्कार करते थे। इस काल में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा उच्च सीमा पर पहुंच गयी थी। उनका वर्ग विशेषाधिकार प्राप्त था। इस काल के अंत तक ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों ने जन्म के आधार पर अपना वर्गीकरण कर लिया था। शूद्रों में अधिकतर दास दस्यु थे। उनकी स्थिति समाज में अन्य तीनों वर्णों से नीची थी। उत्तर वैदिक काल के अंत तक जन्म के आधार पर समाज चार वर्णों में स्पष्ट रूप से बंट गया था और उनके विशेषाधिकारों और उनकी निर्योग्यताओं का स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया गया था। धर्मसूत्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालकों के उपनयन संस्कार के लिए अलग–अलग ऋतुएं और अवस्थाएं निर्धारित की गई हैं जैसे कि ब्राह्मण के लिए वसंत ऋतु और 8 वर्ष, क्षत्रिय के लिए ग्रीष्म ऋतु और 11 वर्ष तथा वैश्य के लिए शरद ऋतु और 12 वर्ष।[5] इसका यह अर्थ है कि इस काल में जन्म के आधार पर बालकों के वर्ण मान लिए गए।

इस काल में ब्राह्मणों और शूद्रों के भेद पर क्रमशः अधिक बल दिया गया। इस काल से पूर्व भी ब्राह्मणों का शूद्रों के साथ विवाह करना तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। गौतम एक प्रसंग में कहते हैं कि मृत ब्राह्मण की संपत्ति में से शूद्र पत्नी से उत्पन्न पुत्र को वृत्ति–मात्र मिलनी चाहिए। दूसरे प्रसंग में उनका मत है कि जिस ब्राह्मण की पत्नी केवल एक शूद्र हो तो द्विजों को उसका भोजन नहीं करना चाहिए। इसका यह अर्थ है कि इस काल में भी कुछ ब्राह्मण शूद्र स्त्रियों से विवाह करते थे। प्रारम्भ में वर्णों का आधार जन्म न था, किंतु धीरे धीरे जन्म वर्णों का आधार बन गया और वर्ण 'जाति' में बदलने लगे। महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्म ने प्रारंभ मे केवल ब्राह्मणों की रचना की थी। अपने कर्मों के अनुसार मनुष्य विभिन्न वर्णों में बंट गए हैं। किंतु महाभारत में ही एक अन्य प्रसंग में जाति के सिद्धान्त का प्रारंभ दिखलाई देता है। भीष्म कहते हैं कि यज्ञ के लिए प्रजापति ने चार वर्णों की सृष्टि की और उनके अलग–अलग कर्तव्य निश्चित किए किंतु सभी वर्णों के मनुष्यों को अपने वर्ण की या अपने से एक वर्ण नीचे की स्त्री से विवाह करने

की अनुमति दी गई थी। उनकी संतान का वर्ण पिता का वर्ण होता था। ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण ही होता है चाहे उसकी माता ब्राह्मणी हो या क्षत्रिया। किंतु यदि माता का वर्ण पिता के वर्ण से अधिक नीचा हो तो संतान का वर्ण माता का वर्ण होता था। उदाहरण के लिए एक ब्राह्मण किसी ब्राह्मणी या क्षत्रिय कन्या से विवाह करे तो उसकी संतान ब्राह्मण कहलाती थी किंतु यदि वह वैश्य कन्या या शूद्रा कन्या से विवाह करे तो उसकी संतान क्रमशः वैश्य या शूद्र होती है।[6] व्यवस्थाकारों ने उनके अलग–अलग कर्तव्य निश्चित किए। उनके अनुसार ईश्वर ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के अतिरिक्त किसी पांचवें वर्ण की सृष्टि ही नहीं की। मनु के अनुसार स्रष्टा ने समस्त विश्व की रक्षा के लिए चार वर्णों की सृष्टि की और उनके अलग–अलग कर्तव्य निश्चित किए। उनके अनुसार ईश्वर ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के अतिरिक्त किसी पांचवें वर्ण की सृष्टि ही नहीं की।

मनु ने 'वर्ण' और 'जाति' दोनों में अंतर किया है। मनु ने जाति शब्द का प्रयोग प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न संतान के लिए किया है। इस प्रकार उसने वर्णसंकर से 57 जातियो ं की उत्पत्ति बतलाई है। अनुलोम विवाहों की संतान का वर्ण मनु के अनुसार भी पिता का ही वर्ण होता है किंतु मातृदोष के कारण वह दोषो कहा जाता था। वर्ण का आधार केवल व्यक्ति विशेष के गुण और कर्म नहीं रहे। ***महाभारत के अनुसार अध्यापन, संयम और तप ब्राह्मणों के; स्वाध्याय, लोक रक्षा, यज्ञ करना, दान देना क्षत्रियों के; स्वाध्याय, दान देना, यज्ञ करना और ईमानदारी से धन कमाना वैश्यों के और अन्य वर्णों की सेवा शुश्रूषा और धन का संचय न करना शूद्रों के विशिष्ट कर्त्तव्य हैं।*** शूद्रों का पालन–पोषण तीन अन्य वर्णों का उत्तरदायित्व था।[7] शूद्रों को भी बिना वैदिक मंत्रों के पाठ के यज्ञ करने का अधिकार था। परंतु मनु ने स्पष्ट लिखा है कि किसी भी वर्ण के व्यक्ति को आजीविका कमाने के लिए अपने वर्ण से उच्च वर्ण का कार्य नहीं करना चाहिए। मनु ने आपत्ति के समय दस ऐसे व्यवसाय बतलाए हैं जिनको चारों वर्णों के व्यक्ति कर सकते हैं। ये दस व्यवसाय अध्ययन, शिल्पकार्य, मजदूरी, सेवा, पशुपालन, व्यापार, कृषि, संतोष, भिक्षा और ब्याज लेना है। महाभारत में कहा गया है कि ब्राह्मणों को उनके आचरण के आधार पर ही ब्राह्मण कहा जा सकता है और यदि शूद्र सदाचारी हो तो उसे भी ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जाता है। वही ब्राह्मण है जिसमें सत्य, दया, क्षमा,सदाचार, करुणा और त्याग के गुण विद्यमान हो। जिस शूद्र में ये गुण हों वह शूद्र नहीं हैं और जिस ब्राह्मण में ये गुण न हों वह ब्राह्मण नहीं है। इसका यह अर्थ है कि इस काल में कुछ व्यक्ति जाति के सिद्धांत को महत्त्व देने लगे थे,किंतु अधिकतर व्यक्ति अब भी वर्ण के सिद्धांत को जिनमें गुण और कर्म का महत्त्व है,अधिक मान्यता प्रदान करते थे। जैसे परशुराम का जन्म ब्राह्मण काल में हुआ था किंतु व्यवसाय के कारण वे क्षत्रिय कहलाए। इस काल में वर्ण का आधार व्यक्ति के गुण और उसके कर्म ही थे, जाति का विशेष महत्व न था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि इस काल में कछ व्यक्ति जाति के सिद्धांत को अधिक महत्व देने लगे थे। कौटिल्य ने ब्राह्मण पिता और क्षत्रिया माता का पुत्र ब्राह्मण और क्षत्रिय पिता और वैश्य माता के पुत्र को क्षत्रिय कहा है। किन्तु वैश्य पिता और

शूद्रा माता के पुत्र को शुद्र कहा है। उन्होंने रथकार को वैश्य कहा है और उनको अपनी जाति में ही विवाह करने की अनुमति दी है। उनका भी यही मत था कि जो व्यक्ति अपने वर्ण के अनुरूप कार्य न करें उन्हें राजा को दंड देना चाहिए। गुप्त काल में ब्राह्मणों का प्रभुत्व अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। समाज को चार वर्गों में बॉटने का प्रयत्न किया। याज्ञवल्क्य वर्णों का जातियों में परिवर्तित करने का प्रयत्न करते है। उनके अनुसार निर्दोष विवाह के लिए माता–पिता का एक ही जाति का होना पहली शर्त है।[8] विष्णु ने भी लिखा है कि समान वर्ण वाले माता–पिता के पुत्र उसी वर्ण के होते हैं।

स्मृतिकारों ने वर्णों को जातियों में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। इसका एक कारण यह था कि वेदों में केवल चार वर्णों का उल्लेख है और तत्कालीन समाज में अनके जातियॉ थीं। यदि वे अनेक जातियों के अस्तित्व को स्वीकार करते तो वेदों को अपौरुषेय कैसे मानते? इस प्रकार उन्होंने वर्णा का निर्धारण जन्म के आधार पर किया और जाति और वर्ण में कोई अंतर नहीं रहा। इसके अतिरिक्त स्मृतिकार जनजातियों के कबीलों और विदेशियों को भारतीय समाज का अभिन्न अंग बनाया। अतः उस वर्णों को जातियों का रूप दे दिया गया। वराह मिहिर ने बृहत्संहिता में एक नगर में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के मकानों के अलग–अलग दिशाओं में बनवाने की व्यवस्था की है।[9] यवन, पह्लव, शक, कुषाण आदि जातियॉ विदेशी थीं। उन्होंने अधिकतर प्रशासन में भाग लिया अतः गुप्त काल से पूर्व ही उन्हें क्षत्रिय वर्ण में स्थान दे दिया गया। इसका यह अर्थ है कि इस काल में भी गुण और कर्म के आधार पर वर्ण निर्धारण की परंपरा कुछ अंश में विद्यमान रही।

जाति प्रथा का प्रभाव व्यवसाय के चुनाव में इतना बाधक सिद्ध न हुआ। अनेक शासक क्षत्रियेत्तर अर्थात ब्राह्मण और वैश्य जाति के थे। अभिलखों से ज्ञात होता है कि अनेक ब्राह्मण व्यापारी, वास्तुकार और राजकीय कर्मचारी थे। किसान, व्यापारी, पशुपालक, लुहार, बढ़ई, तेली और जुलाहे सबकी अलग जातियां बन गई थीं। उनका पैतृक व्यवसाय था। 'कायस्थ' तो इस काल तक एक जाति के रूप में परिवर्तित नहीं हुए थे। नहीं तो समकालीन स्मृतियों में उनका अन्य जातियों के साथ उल्लेख अवश्य होता। शूद्रों में भी अनेक व्यापारी, किसान और शिल्पी थे। गुप्तोत्तर काल में कुमारिल भट्ट (लगभग 700 ई.) ने कर्म के आधार पर वर्ण के सिद्धांत की तीव्र आलोचना की।[10] उसके अनुसार यदि वर्ण का आधार कर्म हो तो तब कोई व्यक्ति अच्छा कार्य करे तो वह ब्राह्मण हो जाएगा और जब बुरा कार्य करे तो शूद्र हो जाएगा। प्रारम्भ में वर्ण गुण और कर्म पर आधारित था परन्तु भारतीय समाज व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के कारण कुमारिल के समय तक वर्ण जाति का पर्यायवाची शब्द हो गया था।

700 ई. के लगभग 'वर्ण' जाति का पयार्यवाची शब्द बन गया था किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गुण और कर्म के आधार पर वर्ण निर्धारण की प्रक्रिया पूर्ण रूप से समाप्त हो गई। निःसन्देह जन्म के आधार पर वर्ण मानना प्रारम्भ कर दिया। किंतु समाज में गुण और कर्म पर आधारित वर्ण सिद्धांत का पूर्णतया त्याग नहीं किया। इस काल में संभवतः अनेक ब्राह्मणों की वेदाध्ययन और यज्ञ कराने में अभिरुचि न थी। कुछ को अस्त्र–शस्त्र चलाना रुचिकर प्रतीत हुआ,इसलिए वे योद्धा बन गए। कुछ को कृषि कार्य या व्यापार करना अच्छा

लगता था, अतः उन्होंने वैश्यवृत्ति अपना ली। इसका यह अर्थ है कि कुछ ब्राह्मणों में भी जाति के अनुरूप कार्य करने का सिद्धान्त पूर्णतया सफल नहीं हुआ। गुण और कर्म पर आधारित वर्ण का सिद्धांत अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ। वैश्यों में अग्रवाल, माहेश्वरी, जायसवाल, खंडेलवाल आर ओसवाल सभी अपनी उत्पत्ति क्षत्रियों से बतलाते हैं, परन्तु इन पर जैन सम्प्रदाय की शिक्षाओं का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने क्षात्र धर्म छोड़ कर वैश्यवृत्ति अपना ली।[11] इस प्रकार वैश्यों पर भी इस काल में वर्ण सिद्धांत का बहुत प्रभाव पड़ा। शूद्रों का तो अपना कोइ संगठन था ही नहीं। उनमें तो अधिकतर पैतृक व्यवसाय करते ही थे। इसलिए उनके वर्गीकरण में तो वर्ण सिद्धांत का प्रभाव पूर्ण रूप से पड़ा। शिल्पियों और द्विजों की संस्कृति से हीन सांस्कृतिक स्तर वाले सभी व्यक्तियों को, जिनकी अपनी अलग श्रेणियॉ थीं, शूद्र कहा गया। वर्ण व्यवस्था में आनुवंशिकता और जन्म को अधिक महत्व नहीं दिया जाता है। इसका यह परिणाम होता है कि व्यक्ति विशेष अपने विशेषाधिकारों को प्राप्त करने के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील रहता है और अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए प्रयत्न नहीं करता। जाति शब्द का प्रयोग सबसे पहले मिलता है। स्मृतियों में बहुधा वर्ण और जाति अपने मौलिक अर्थों में प्रयुक्त नहीं किए हैं। सभी स्मृतिकारों ने इस बात पर जोर दिया है कि राजा को सब व्यक्तियों को उनके वर्ण के लिए उपयुक्त कर्तव्यों को करने के लिए बाध्य करना चाहिए और जो व्यक्ति ऐसा न करे उन्हें दण्ड देना चाहिए। वर्णसंकर को रोकना भी राजा का कर्तव्य लिखा है। वैदिक काल में ही कुछ व्यक्तियों में दूसरों से अलग रहने ओर उनसे अपने को श्रेष्ठ समझने की भावना का उदय हो गया था और इन्ही दो भावनाओं से कालांतर में अनेक जातियॉ ओर उपजातियॉ बनती चली गई।[12]

भौगोलिक कारणों से भी अनेक उप–जातियॉ बनी। सामाजिक कार्यों को करने के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार के गुण, योग्यता और प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। उदाहरण के रूप में ब्राह्मण का प्रमुख कर्तव्य समाज की बौद्धिक और आध्यात्मिक सस्कृति को सभी दोषों से मुक्त रखना और इस बौद्धिक और आध्यात्मिक संस्कृति को आगे आने वाली पीढ़ियों को सौंपना था। इसी आधार पर ब्राह्मणों के कुछ विशेषाधिकार थे जैसे कि समाज में उनकी प्रतिष्ठा या राजा तक आसानी से पहुंच। उससे स्वार्थ–त्याग और समाज–सेवा की भावना की सबसे अधिक आशा की जाती थी। इसी प्रकार सब वर्णों के कर्तव्य थे और उन कर्तव्यों की पूर्ति पर ही उनके अनुरूप उन्हें कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते थे।[13] वर्ण व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को वे कर्तव्य हस्तांतरित करने थे जो उसके गुणो के अनुरूप हों। वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण को धन–संचय करने की अनुमति न थी। क्षत्रिय भी उतने धन का संचय कर सकता था जितना कि देश और समाज की रक्षा के लिए आवश्यक था। वैश्य धन–संचय करता था किन्तु केवल अपने लिए नहीं बल्कि समाज की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए। वर्ण–व्यवस्था में एक वर्ण को दूसरे से श्रेष्ठ समझने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि यह कहा गया है कि जन्म के समय प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है।[14] उसकी प्रतिष्ठा इस बात पर निर्भर थी कि वह किस सीमा तक समाज की उन्नति में अपना योगदान करता है। जाति–व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें जन्म के सिद्धांत को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जाता है। वर्ण–व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के

कर्तव्य उसकी सहज मनोवृत्ति और उसके गुणों पर आधारित थे। इसलिए वर्तमान काल में भी वर्ण का आधार किसी व्यक्ति का कार्य या उसकी कार्यक्षमता होनी चाहिए न कि उसका जन्म।

## संदर्भ


1. कोसांबी,मीरा, अनसेटलिंग द पास्ट, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत, 2014, पेज 04
2. वही, पेज 09
3. कोसांबी, डी. डी., एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, पॉपुलर बुक डिपो, बंबई, 1956 पेज 06
4. वही पेज 08
5. कोसांबी, डी. डी., मिथ ऐंड रियैलिटी, पॉपुलर प्रका''ान, बंबई, 1962, पेज 71
6. वही, पेज 76
7. कोसांबी, डी. डी., द कल्चर ऐंड सिविलाइजे''ान ऑफ ऐं''ायेंट इंडिया इन हिस्टोरिकल आउटलाइन, रुटलेज ऐंड कीगन प्रेस, लंदन, 1965, पेज 114
8. वही, पेज 122
9. पणिक्कर, के.एम.,ऑरजिन एण्ड इवोल्यूशन ऑफ किंगशिप इन इण्डिया, स्टेट प्रेस, बडौदा, 1938, पेज 137
10. पाण्डेय, उदयशंकर प्राचीन भारत की राज्य व्यवस्था (वैदिक एवं स्मृतिकालीन) नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1998, पेज 119
11. सिंह, डॉ. देवेन्द्र कुमार प्राचीन भारत में मंत्रिपरिषद एवं कार्यप्रणाली, कनिष्का पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2004, पेज 202
12. वही, पेज 206
13. शर्मा, डॉ. सुरेन्द्र मोहन प्राचीन भारतीय चिन्तन में राज्य व समाज, आर.बी.एस. पब्लिशर्स,जयपुर 2012, पेज 241
14. सहाय, शिवस्वरूप प्राचीन भारतीय शासन और विधि, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2005, पेज 188